

## सामाजिक न्याय की अवधारणा : डॉ० अम्बेडकर की दृष्टि में

अरविन्द कुमार यादव

तदर्थ प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, शिवाजी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत।

प्रस्तावना

सभ्यताओं के इतिहास में सांस्कृतिक वर्चस्व का खेल एक सर्वविदित तथ्य है जिसके आधार पर बहुसंख्यक आबादी को सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक व धार्मिक गुलामी में जकड़ दिया जाता रहा है। जिसका शिकार हमारे देश में दलित, स्त्रियाँ, आदिवासी अल्पसंख्यक तथा वे तमाम गरीब व पिछड़े हुए लोग हैं। जो इसी ऐतिहासिक सांस्कृतिक वर्चस्व के कारणों से उच्च वर्गों या वर्णों वाली समाज-व्यवस्था में निचले स्तरों पर जीते हैं और आर्थिक शोषण, राजनैतिक दमन, सांस्कृतिक उत्पीड़न और सामाजिक अन्याय के शिकार हैं।

इस तरह सामाजिक न्याय का प्रश्न कहीं-न-कहीं हमारी सभ्यता और संस्कृति से जुड़ा है तो दूसरी ओर अर्थव्यवस्था और संवैधानिक व्यवस्था से भी। इसलिए हमें इस पर विचार करते समय इन सारे आयामों पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। सवाल इस बात का है कि इन सारी चीजों को ध्यान में रखते हुए हम क्या सामाजिक न्याय की स्पष्ट अवधारणा बना पाये हैं? क्या दलितों को सवर्णों के विरुद्ध, पिछड़ों को अगड़ों के विरुद्ध, स्त्रियों को पुरुषों के विरुद्ध या किसी एक धर्म या सम्प्रदाय को दूसरे धर्म का सम्प्रदाय के लोगों के विरुद्ध बाइनरी अपोजिशन में रखकर हम क्या किसी न्यायपूर्ण समाज व्यवस्था की स्थापना को मूर्त रूप दे सकते हैं? शायद नहीं? तो क्या वर्तमान समाज व्यवस्था को बदला नहीं जाना चाहिए? तो इस नई वैकल्पिक सामाजिक व्यवस्था का मॉडल क्या हो? जिससे सामाजिक समरसता भी बनी रहे और सामाजिक न्याय की अवधारणा भी फलीभूत हो? मैं इन सारे प्रश्नों को यहाँ उपस्थित बुद्धिजीवियों के हवाले करता हूँ। प्रश्न है कि सामाजिक न्याय की अवधारणा क्या है? इसकी अवधारणा पर विचार करने से पहले इसके ऐतिहासिक पीठिका पर नजर डालना इसलिए भी लाजमी है कि शोषण और दमन के खिलाफ सामाजिक न्याय के संघर्षों का भी अपना एक इतिहास रहा है। मेरी जानकारी में गौतम बुद्ध पहले आदमी थे, जिन्होंने अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था (जात-पाँत) के विरुद्ध आन्दोलन किया। सही मायने में बौद्ध धर्म का आधार ही था सामाजिक-न्याय, जिसे बाद में बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर ने उसका उपयोग किया और दलितों के उद्धार का सपना देखते हुए नव-बौद्ध धर्म का रूप दिया। उसके बाद से देखे तो सामाजिक न्याय की माँग का एक लम्बा इतिहास रहा है। भक्ति-आंदोलन के दौरान विभिन्न धाराओं वाले खासकर पिछड़े व छोटी जातियों के निर्गुण संतों ने सामाजिक न्याय की बात की। इसी सामाजिक न्याय की बात 19वीं शती के समाज-सुधार आन्दोलनों में की गई। महाराष्ट्र में महात्मा फूले और बंगाल में नवजागरण के नेताओं ने सामाजिक न्याय का प्रश्न उठाया। स्त्रियों के पक्ष में सती प्रथा के विरुद्ध

और विधवाओं के पुनर्विवाह के पक्ष में जो आन्दोलन चला वह स्त्री जाति को न्याय दिलाने के लिए चलाया गया आन्दोलन ही था। सारी बहसों व विरोधों के बावजूद यदि देखें तो गाँधी के स्वतंत्रता आंदोलन में चलाया जा रहा सांस्कृतिक कार्यक्रम भी सामाजिक न्याय की ही माँग थी। जिसका बाद में लोगों ने अपने ढंग से अलग-अलग पाठ किया ये और बात है।

जहाँ तक सामाजिक न्याय की अवधारणा की बात है तो इसकी कोई स्पष्ट परिभाषा शायद संभव नहीं है। लेकिन मेरी समझ में न्याय का अर्थ है बराबरी का व्यवहार और बराबर का स्टेट्स! अर्थात् जो अवसर व सुविधा आप अपने लिए चाहते हैं, वहीं दूसरों के लिए दें यही न्याय है। और सामाजिक न्याय का अर्थ है दूसरे का अधिकार न मारा जाए, दूसरे का विकास का अवसर न मारा जाए उसे उसका हम मिले, प्राप्य मिले। और जब व्यवस्था पर काबिज लोग, उन लोगों को इन्हीं मूलभूत नैसर्गिक अधिकारों से वंचित करते हैं तब भेदभाव शुरू होता है यही सामाजिक अन्याय है?

यह सामाजिक अन्याय हमारे सामाजिक संरचना में किस तरह गहरे स्तरों पर निगूढ़ है - इसको इस बात से समझा जा सकता है कि हमारे देश की सत्तर प्रतिशत जनसंख्या को उनके मूल नागरिक अधिकारों से हमेशा वंचित रखा गया। छुआछूत से लेकर, जबरन मजदूरी, शिक्षा के अधिकार का न होना पूरी जहालत भरी पशुवत जिंदगी हमारे समाज व्यवस्था का अनिवार्य ढांचा बन गया है। इसलिए जब भी हम सामाजिक न्याय की माँग करेंगे, उस सामाजिक स्थिति, उस इतिहास, उस परम्परा की पुनः परीक्षा की बात आयेगी जो इन सबको पृश्यता या अपृश्यता पवित्र व अपवित्र के आधार पर समर्थन देती है। तब यह सामाजिक न्याय की लड़ाई पूरी समाज व्यवस्था को बदलने की लड़ाई में परिवर्तित होने लगती है, क्योंकि जब आप पूरी व्यवस्था की पुनः परीक्षा करेंगे तो उसमें आपको बहुत से अंतर्विरोध दिखाई देंगे और बहुत-सी ऐसी परिस्थितियाँ दिखाई देगी, जिनको देखकर आश्चर्य होता है कि इनको कैसे बर्दाश्त किया जाता रहा है।

जन्म के आधार पर तैयार की गई ये मूल्य व्यवस्थाएँ सामाजिक असमानता और अत्याचार का मुख्य कारण बनती हैं। ब्राह्मणवादी मानसिकता के लोगों ने इसे अपने हित में बनाये रखने व दृण रखने का प्रयास किया। तर्क इस बात का दिया जाता है कि जाति तो कर्म के आधार पर निर्धारित व्यवस्था थी जो अब चली आ रही है - जबकि अम्बेडकर ने अपनी पुस्तक "भारत में जाति-प्रथा" में लिखा है कि - जाति न तो श्रम-विभाजन पर आधारित है और न प्राकृतिक क्षमताओं पर। जाति व्यक्तियों को पहले से ही काम निर्धारित करती है। उसकी

प्रशिक्षित व मौलिक क्षमताओं के आधार पर नहीं, बल्कि जन्म के आधार पर माता-पिता के सामाजिक दर्जे के आधार पर।

इसी सवाल पर कांग्रेस की आलोचना करते हुए अम्बेडकर ने कहा - “कांग्रेसी यह कहते नहीं अघाते कि एक देश को दूसरे देश पर शासन का अधिकार नहीं है - शासन के योग्य नहीं है। उनसे यह पूछा जाना चाहिए कि क्या एक वर्ग/जाति दूसरे जाति पर शासन के योग्य है?

(जाति तोड़ो - विजय प्रताप, लोकायन प्रकाशन, दिल्ली)

स्पष्ट है कि कांग्रेस के लिए स्वतंत्रता आंदोलन में राजनीतिक पक्ष ज्यादा महत्वपूर्ण था जबकि अम्बेडकर के लिए उसका सामाजिक पक्ष ज्यादा महत्वपूर्ण था। अम्बेडकर का स्पष्ट मानना था कि स्वतंत्रता आंदोलन जनमुक्ति के संघर्ष की ही परियोजना है लेकिन जनमुक्ति की कोई भी परियोजना दलित, आदिवासी व पिछड़ों की मुक्ति के बिना अधूरी ही है। इसलिए भी स्वतंत्रता आन्दोलन में सामाजिक पक्ष इनके लिए ज्यादा महत्व का था। अपनी धारणा को और अधिक स्पष्ट करते हुए दुःखी होकर अम्बेडकर से कहा था कि “भारत की राजधानी से लेकर गाँव तक पूरा का पूरा प्रशासन चालाकी से हिन्दुओं द्वारा संचालित है। हिन्दू समस्त प्रशासन में, इनकी सभी शाखाओं में सर्वव्यापी, सर्वशक्तिशाली भगवान की तरह हैं, जिसका इसके कोने-कोने तक प्रभुत्व है। इसमें पुरानी व्यवस्था के विरोधी किसी भी व्यक्ति के लिए इससे छुटकारा पाने का कोई रास्ता ही नहीं है। इस तरह पूरी व्यवस्था ही शोषण का तंत्र है। ध्यातव्य है कि अम्बेडकर के चिंतन में सामाजिक पक्ष को ज्यादा महत्व मिलने के कारण कुछ लोग उन्हें गैर-राष्ट्रवादी कहने में भी नहीं हिचकते हैं। जबकि उनके सामाजिक न्याय की अवधारणा में राष्ट्रवाद भी शामिल है वे कहते हैं “राष्ट्रवाद एक वास्तविकता है, जिससे न बचा जा सकता है। न ही इसका खण्डन किया जा सकता है।” वे राष्ट्रवाद को मानव जीवन में एक प्रभावकारी वास्तविक ताकत के रूप में मानते हैं। जिसे पूर्ण रूप से राष्ट्र-विरोधी के रूप में देखा गया, जबकि हमेशा से ही उनका नजरिया विशुद्ध रूप से राष्ट्रवादी ही था। वह सामाजिक न्याय की अवधारणा में ही समाहित था।

इस प्रकार अम्बेडकर के लिए भी सामाजिक न्याय का मूल आधार बराबरी ही है। इसलिए संविधान में भी यह निर्देश दिया गया कि राज्य को व्यक्तियों तथा समूहों के बीच गैर बराबरी दूर करने का प्रयास करना चाहिए। हमारे संविधान निर्माताओं ने इसीलिए संविधान के उद्देशिका जिसे संविधान की आत्मा कहा जाता है में - समानता, गरिमा और बंधुत्व जैसे शब्दों का प्रयोग किया। जिससे हमारा जनतंत्र मजबूत हो ये और बात है कि व्यावहारिक धरातल पर इसे कितना मूर्त किया गया है और कितना बाकी है। यही देखकर बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर के वे शब्द याद आते हैं जो आज से पचास साल पहले उन्होंने भारत का संविधान प्रस्तुत करते हुए अपने भाषण में कहे थे - उन्होंने बराबरी के सवाल पर जोर देते हुए कहा था -

“हमें स्वीकार करना चाहिए कि भारतीय समाज से कुछ चीजें एकदम गायब हैं। उनमें से एक चीज है बराबरी। सामाजिक धरातल पर देखें तो भारतीय समाज गैर बराबरी के सिद्धान्त पर आधारित है, जिसका अर्थ है, कुछ लोग उच्च वर्ग के हैं और अनेक लोगों को निम्न वर्ग में रखा जाता है। आर्थिक दृष्टि से देखें तो हमारे समाज में कुछ लोगों के पास अपार संपदा है, और कुछ लोग अत्यन्त विपन्नता की स्थिति में जीवन जी रहे

हैं। 26 जनवरी 1950 को हम एक अंतर्विरोधी जीवन में प्रवेश कर रहे हैं। राजनीति में हमें बराबरी मिलेगी और आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में गैर-बराबरी बनी रहेगी। कब तक हम यह अंतर्विरोधी जीवन जीते रहेंगे? कब तक हम आर्थिक व सामाजिक जीवन में बराबरी को नकारते रहेंगे? अगर हम लम्बी अवधि तक बराबरी को नकारते रहेंगे, तो एक दिन हमारा जनतंत्र खतरे में पड़ सकता है। हमें इन अंतर्विरोधों को यथाशीघ्र दूर करना चाहिए, नहीं तो जो लोग इस गैर बराबरी से पीड़ित होंगे, वे इस राजनीतिक जनतंत्र के ढाँचे की धज्जियाँ उड़ा देंगे जिसे इस असेम्बली ने बड़े परिश्रम से तैयार किया है।”

अम्बेडकर के इस बयान में यदि निष्कर्ष निकाले तो यही होगा कि - अम्बेडकर की दृष्टि में सामाजिक न्याय से तात्पर्य सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक हिस्सेदारी व बराबरी से ही है।

जिसके लिए संविधान में आरक्षण, अस्पृश्यता उन्मूलन आदि का प्रावधान किया गया। लोकायन की आरक्षण श्रृंखला के सितम्बर-नवम्बर-90 में संस्कृत की विदूषी सुश्री सुरभि सेठ (जो शायद जन्मना नागर ब्राह्मण हैं) ने सामाजिक न्याय की बात पर अपने लेख “जाति व्यवस्था और पिछड़ापन : अतीत का सातत्य” नामक लेख में स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखा कि - “पिछड़े हुए लोगों को ऊपर उठाने की दिशा में आरक्षण तो एक छोटा सा कदम है, मूल रोग सवर्णों की मानसिकता का है। जिसे हम सांस्कृतिक संकट कह सकते हैं।”

जरूरत इस बात की है कि हम इस सांस्कृतिक संकट से निजात पायें। हाशिए पर पड़े लोग राष्ट्र की मुख्य धारा में आये, विकास में अपना योग दे। यह तभी संभव है - जब जाति खत्म हो मसलन अम्बेडकर के शब्दों में लोग अंतर्जातीय विवाह को दिल और दिमाग से मान्यता दे। उसको स्वीकार करें। तभी सामाजिक न्याय की अवधारणा अपने सही अर्थों में फलीभूत होगी।

#### सन्दर्भ

1. Bhartiya Chintan Parampara by K Damodaran, Peoples Publishing House limited, New Delhi.
2. Shudra Kaun The- by Dr B. R Ambedkar, MP Hindi Granth Academy, Bhopal 2002.
3. Bhim Rao Ambedkar: Vyaktitva aur Vichar -by Vishw Prakash Gupta, Radha Publications, New Delhi.
4. World Focus: Ambedkar Visheshank - by Kishor Babu, July 2012, new Delhi.